'द्रव्यदृष्टि प्रकाश' ग्रन्थमें से आत्मिक सुख एवं सम्यक्ज्ञानकी प्रवृत्ति विषयक वचनामृत

सम्यक्ज्ञानकी प्रवृत्ति

विकल्पात्मक निर्णय छूट कर स्वआश्रित ज्ञान उघड़ता है। जो ज्ञान सुख को देता है, वही ज्ञान है। ४६२.

❖

विकल्प उठे तो ऐसा कहे कि 'हे गुरु ! आप मेरे सर्वस्व हैं' (लेकिन) उसी समय अभिप्राय तो यह कहता है कि 'मुझे आपकी जरूरत नहीं,' 'मेरा सर्वस्व तो मेरे पास है' इतना विश्वास और (स्वरूप का) उल्लास तो जरूर आ जाना चाहिए कि (मेरे कार्य के लिए) मुझे देव–गुरु की भी जरूरत नहीं; सुनने–करने की भी जरूरत नहीं, मेरा कार्य मेरे (अंतर–पुरुषार्थ) से ही होगा। ४६८.

❖

स्वाध्याय आदि का विकल्पवाला ज्ञान है सो तो आकुलता के साथ अभेद है; और सहजज्ञान त्रिकालीस्वभाव के साथ अभेद है। (जिसमें निराकुलता है।) ५७०.

❖

'मैं निष्क्रिय त्रिकाली हूँ' – इस चश्मे को लगाकर देखने से सभी गुण अपना कार्य करते हैं, इसमें सहज ज्ञान और पुरुषार्थ आ जाता है।

(सहज स्वरूप में) साधक–बाधक कोई नहीं है, यह चश्मा लगाने से अर्थात् ध्रुव की मुख्यता में सब यथार्थ दिखता है। साधक–बाधकभाव पर्याय में है, 'मैं तो ध्रुव हूँ।' ६०१.

❖

'प्रति समय का परिणमन' (– व्यवहार) उस काल में मात्र जाना हुआ ही प्रयोजनवान है – बस ! इतनी ही मर्यादा है। ६१४.

❖

ज्ञान की पर्याय ज्ञेय के साथ संबंध रखती है। ज्ञायक का संबंध किसी के साथ नहीं। ('मैं असंग तत्त्व हूँ।') ६१९.

❖

सम्यग्दृष्टि की राग के प्रति पीठ है, (लेकिन) मुख नहीं।

'मैं' तो सदा अंतर्मुख हूँ, 'मेरा' विकल्प के साथ भी संबंध नहीं है; तो दूसरों की तो क्या बात ? आत्मा ही निज वैभव है। ६२४.

❖

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत - २५४१ : अंक-२०८ : वर्ष - १९ : जनवरी-२०१५

कार्तिक वद -१, बुधवार, दि. १५-११-१९७८, बहिनश्री के वचनामृत-३८० पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन-१५१

जिस प्रकार सुवर्ण को जंग नहीं लगती, अग्नि को दीमक नहीं लगती, उसी प्रकार ज्ञायकस्वभाव में आवरण, न्यूनता या अशुद्धि नहीं आती। तू उसे पहिचानकर उसमें लीन हो तो तेरे सर्व गुणरत्नों की चमक प्रगट होगी।। ३८०।।

३८० वचनामृत है। बहुत सादे दृष्टान्त से वस्तु को सिद्ध की है। अपने गुजराती में तो ऐसा कहे, कंचनने काट लागे नहि। '**जिस प्रकार सुवर्ण को जंग नहीं लगती, अग्नि को दीमक नहीं लगती,...**' दीमक-दीमक। यहाँ ऐसा कहते हैं। '**जेम कंचनने काट लागतो नथी,...**' सुवर्ण को जंग नहीं लगती। आहा..हा...! '**अग्नि को दीमक नहीं लगती,...**' दीमक-दीमक होती है न ? '**अग्नि को दीमक नहीं लगती, उसी प्रकार...**' आहा..हा...! '**ज्ञायकस्वभाव में...**' भगवान ज्ञायकस्वभाव वस्तु, जो द्रव्यस्वभाव है उसको आवरण नहीं है। द्रव्य को आवरण नहीं है। आहा..हा..! वस्तु को आवरण हो तो वस्तु, अवस्तु हो जाय। बहुत सूक्ष्म बात है। आहा..हा...! आवरण का निमित्त और राग का निमित्त तो एक समय की पर्याय के साथ है। वस्तु में आवरण नहीं है। आहा..हा...! चैतन्यद्रव्य जो वस्तु है, उसमें आवरण नहीं है। अग्नि में दीमक नहीं, सुवर्ण को जंग लगती नहीं, उसी प्रकार भगवान आत्मा में आवरण नहीं है। द्रव्य में आवरण है ही नहीं। आहा..हा...! यह तो मूल चीज़ है।

'**न्यूनता...**' नहीं है। कमी नहीं। वस्तु स्वभाव है उसमें कमी नहीं है। वह तो पूर्ण पूर्ण वस्तु है। आहा..हा...! '**न्यूनता या अशुद्धि नहीं आती।**' वस्तु में अशुद्धि कैसी ? एक समय की पर्याय में अशुद्धि है। एक समय। वस्तु है वह तो त्रिकाली शुद्ध ही है। आहा..हा...! '**अशुद्धि नहीं आती। तू उसे पहिचानकर...**' आहा..हा...! सिर्फ माल है। तेरी दृष्टि द्रव्य पर लगाकर... आहा..हा...! क्योंकि द्रव्य है वह अनावरण है, अशुद्धि नहीं, कमी नहीं है। पूर्ण है। ऐसे वस्तु के स्वभाव पर दृष्टि लगा दे, तूझे सम्यग्दर्शन, आत्मा का अवलोकन होगा। आहा..हा...! आत्म अवलोकन। आत्मा निरावरण, कमी नहीं, अशुद्धता नहीं, ऐसी पूर्ण, निरावरण, शुद्ध चीज़ है। जो आत्मतत्त्व ज्ञायकतत्त्व है उसको पहिचानकर। आहा..हा...! ऐसे द्रव्य को, आत्मतत्त्व को पहिचानकर। आहा..हा...! यह जानना है। बाकी सब बातें कोई भी जानी हो (सब व्यर्थ है)। आहा..हा...!

'**तू उसे पहिचानकर उसमें लीन हो...**' उसका ज्ञान करके उसमें लीन हो। दर्शन-चारित्र अब आयेगा। आहा..हा..!

सूक्ष्म बात बहुत है, लेकिन मूल में लोगों को अभी ऐसा लगता है कि व्यवहार से होता है.. व्यवहार से होता है.. परन्तु व्यवहार से लाभ होने हेतु कहा है। वह तो सब मालूम नहीं है क्या ? पढ़ा नहीं है ? वह तो उसमें व्यवहार भेद किये बिना समझे नहीं, इसलिये व्यवहार से समझाते हैं। वह तो ८-९ गाथा में आया है न ? आहा..हा...! व्यवहार से समझाते हैं इसलिये व्यवहार करनेवाले को अनुसरण करने लायक है और सुननेवाले को अनुसरण करने लायक है, ऐसा नहीं है। यह बड़ा फ़र्क़ है।

एक समय की पर्याय है, लेकिन वह अनुसरण करने लायक नहीं, आश्रय करने लायक नहीं। आहा..हा...! राग है तो वह भी अनुसरण या आश्रय करने लायक नहीं है। व्यवहार रत्नत्रय का राग हो परन्तु वह आश्रय करने लायक नहीं है। आहा..हा...! आश्रय-अवलम्बन करने लायक तो एक प्रभु नित्य वस्तु ध्रुव.. आहा..हा...! उसका अवलम्बन ले। उसे पहिचान। पर्याय को पहिचान या राग को पहिचान ऐसा यहाँ नहीं कहा है। आहा..हा..! **'उसे पहिचानकर...'** तो जो ज्ञान होगा वह सब भेद को, राग को, निमित्त को जान लेगा। आहा..हा...! ऐसी बात है।

'तू उसे पहिचानकर...' आहा..हा...! अर्थात् कोई पहिचान करवानेवाला है और पहिचानता है, ऐसा नहीं। तू उसकी पहिचान कर। आहा..हा...! अकेला ज्ञायकभाव, स्वरस, चिद्घन, ध्रुव, निरावरण कमी नहीं, अशुद्धता नहीं, ऐसी चीज़ को पहिचानकर। आहा..हा...! **'उसमें लीन हो...'** आहा..हा...! **'तो तेरे सर्व गुणरत्नों की चमक प्रगट होगी।'** आहा..हा...! **'तो तेरे सर्व गुण...'** जितने गुण हैं... आहा..हा...! उसकी चमक। पर्याय में उसकी चमक... आहा..हा...!

द्रव्य लिया। ज्ञायकस्वभाव द्रव्य लिया। उसमें आवरण नहीं, न्यूनता नहीं, अशुद्धता नहीं। उसे पहिचानकर पर्याय द्वारा लीन हो, पर्याय अन्दर द्रव्य में लीन हो, तो सर्व गुण उसमें आ गये तो जितने परिपूर्ण गुण हैं, उन सब गुणों की चमक पर्याय में आयेगी। आहा..हा...! ऐसी सादी भाषा और...

ज्ञायकभाव ध्रुव चैतन्य त्रिकाल निरावरण...आहा..हा...! त्रिकाल पूर्ण, त्रिकाल शुद्ध, त्रिकाल का अर्थ वर्तमान पूर्ण शुद्ध, ऐसी चीज़ को पर्यायदृष्टि छोड़कर अन्तरदृष्टि लगाकर, पहिचानकर उसमें लीन हो। आहा..हा...! **'तो तेरे सर्व...'** जितने गुण हैं, उन सर्व गुणों की पर्याय में व्यक्त पर्याय चमक-प्रगट होगी। आहा..हा...! वह गुप्तरूप है, अनन्त गुण जो गुप्तरूप हैं, वे द्रव्य को पहिचानकर उसमें लीन होने से, वह गुप्त शक्ति की व्यक्तता होगी। ऐसी बात है। आहा..हा..! कहिये, ऐसी बात है। धर्म कहाँ प्रगट होता है ? किसके अवलम्बन से प्रगट होता है ? और कितने गुण अन्दर है ? द्रव्य का अवलम्बन लेने से जितने गुण हैं, उतनी पर्याय में शक्तिमें से व्यक्तता होगी। आहा..हा...! ऐसी सादी भाषा। आहा..हा...!

मुमुक्षु :- सर्वगुणांश ते सम्यक्त्व।

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह समकित। ये तो द्रव्य-गुण। त्रिकाल ज्ञायकभाव, अनावरण, पूर्ण और शुद्ध, अपूर्ण नहीं, अशुद्धि नहीं अर्थात् पूर्ण शुद्ध। ऐसी मौजूदगी रखती चीज़ है। सत् ऐसी हयाती की चीज़ है। उस ध्रुव को

पर्याय में पहिचानकर, पर्याय को उसमें से पहिचानकर.. आहा..हा...! द्रव्य से द्रव्य पहिचाना नहीं जाता। आहा..हा...! ऐसी बात। ये तो मन्त्र हैं, भाई ! अरे..! कब यह (बैठे) ? एकान्त एकान्त कहकर लोग पड़े हैं न। इसे एकान्त कहते हैं। अरे..! उसे मालूम नहीं। भाई ! वह दुनिया मानेगी। दुनिया पागल है बेचारी। मालूम नहीं। आहा..हा...! इससे वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं हो जायेगा। आहा..हा...! पर्याय में व्यवहार करो.. व्यवहार करो.. व्यवहार करो.. करते–करते निश्चय हो जायेगा। आहा..हा...! दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, उपवास, संयम ले लो, चारित्र ग्रहण करो। इस समकितदर्शन के बिना। आहा..हा...! ऐसा है।

शास्त्र में ऐसा आये कि समकिती ज्ञानी इतनी छोटी प्रतिमा भी स्थापित करे, तो उसके पुण्य को सरस्वती कह नहीं सकती। आता है कि नहीं ? 'पद्मनन्दि पंचविंशतिः'। आहा..हा...! लेकिन उसका अर्थ क्या ? जिसे आत्मज्ञान हुआ है, मैं पूर्णानन्द प्रभु हूँ ऐसा वेदन आ गया है, उसे ऐसा भाव आता है। तो उस भाव से पुण्यबन्ध होता है। पुण्य कितने ? कि वह तो पुण्यानुबन्धी पुण्य है। इतना कहना है। आहा..हा...! उससे आत्मा को कुछ लाभ है (ऐसा नहीं)। ऐसी बातें लोगों को कठिन पड़े। प्रतिमा स्थापित करे, (तो) ऐसा थोड़ा डाले... आहा..हा..! आज तो क्या काम किया है ! वह तो शुभभाव है। वह शुभभाव बन्ध का कारण है। आहा..हा...! दृष्टि जहाँ शुद्ध चैतन्य पर पड़ी, उसके अवलम्बन से जो निर्मल पर्याय उत्पन्न हुई, वह तो शुभभाव को जानती है। मेरा है और मैंने किया है, ऐसी बात नहीं है। आहा..हा...! अरे..! ऐसा ! आहा..हा...!

भाई ! चौरासी लाख के अवतार.. आहा..हा...! २५–५०–१०० कुटुम्बी हों, पैसेवाला करोड़पति हो, अकेला वेदन करके.. आहा..हा...! डबल न्यूमोनिया (हुआ हो), वेदना की हद नहीं, आँख से आँसू चले जाते हो, वह देह छोड़कर... प्रभु ! अज्ञानपने में आत्मा का भान नहीं.. आहा..हा...! वह कहाँ जाकर चौरासी के अवतार में जन्म लेगा। भाई ! इसप्रकार के अवतार का कारण मिथ्यात्वभाव है, पर्यायबुद्धि है, रागबुद्धि है। आहा..हा...!

भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध चैतन्य निरावरण वस्तु, उसे पहिचान। ज्ञान में उसे ज्ञेय बना दे। आहा..हा...! ज्ञान की वर्तमान पर्याय में उसे ज्ञेय बना और उसमें लीन हो। आहा..हा...! ऐसी सादी भाषा। ऐसी बात लोगों को ऐसी लगे... आहा..हा..! इसमें कुझ समझ नहीं आता, जल्दी से क्या करना। इसलिये उसे ऐसा लगे कि यह तो... बापू ! मार्ग ही यह है। चाहे जितना विकृत हुआ, लेकिन स्वभाव जो पूर्ण है उसमें अपूर्णता नहीं आयी। आहा..हा...! वह विकृत अवस्था उपर.. उपर.. उपर हुई है। स्वभाव में बिलकूल कमी नहीं हुई। आहा..हा...! और जैसा स्वभाव था वैसी दृष्टि जहाँ हुई, (वहाँ) विकृत अवस्था उपर जो थी वह निकल जाती है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। उसमें दस–दस हज़ार, बीस–बीस हज़ार लोगों की सभा इकट्ठी हो तो खुश हो जाय। इस बात में कुछ पकड़ में नहीं आये तो क्या खुश हो ? वहाँ तो कहे, देशसेवा करो, दया पालो, व्रत पालो, उपवास करो, आपका कल्याण होगा। ऐसा सुनकर लोग खुश होते हैं। वह तो मिथ्यात्व का पोषक है। आहा..हा...!

मुमुक्षु :– आत्मा के देश की सेवा..

पूज्य गुरुदेवश्री :– इस आत्मा की ... नहीं है, प्रभु ! तुझे मालूम नहीं है, भाई ! आहा..हा...! वह आनन्द का पर्वत, सागर प्रभु निरावरण अन्दर पड़ा है। वह चैतन्यरत्नाकर, स्वयंभू। समुद्र जैसे स्वयंभू आत्मा... आहा..हा..! अपनी भूमिका में जो असंख्य प्रदेश में स्वयं अनन्त गुण से भरा है, प्रभु ! आहा..हा..! उसे तू पर्यायदृष्टि, रागदृष्टि, व्यवहारदृष्टि को छोड़कर (वहाँ दृष्टि लगा)। आहा..हा...! यहाँ तो निश्चय तब होता है। वह कहता है, निश्चय सिद्ध में होता है। अरे..! प्रभु ! क्या किया तूने ? अरे..! भाई ! आहा..हा...!

वस्तु अन्दर निर्मलानन्द प्रभु शुद्ध पूर्ण है उसका

अवलम्बन लेनेपर ही धर्म होता है। बाकी व्यवहार से और निमित्त से, देव-गुरु-शास्त्र से देव-गुरु की वाणी से भी नहीं होता। आहा..हा..! ऐसा है। शान्ति का काम, शान्ति से चले ऐसा है। आहा..हा...! भाषा तो देखिये ! वह वस्तु जो निरावरण, पूर्ण शुद्ध (है), उस चीज़ को पहिचानकर लीन होना। आहा..हा...! बिलकूल सादी बाषा। मात्र बारह अंग का तात्पर्य। आहा..हा...!

'**तू उसे पहिचानकर उसमें लीन हो...**' आहा..हा...! '**तो तेरे सर्व गुणरत्नों की...**' जो शक्तिरूप गुप्तगुण हैं उसे पहिचानकर, लीन होनेपर '**सर्व गुणरत्नों की चमक प्रगट होगी।**' आहा..हा...! अन्दर झलक उठेगी। शान्ति, आनन्द, स्वच्छता, प्रभुता ऐसी सर्व शक्तिओं की चमक उठेगी। ऐसी बात है, प्रभु ! क्या हो ? ऐसी बात सुननेवाले भी थोड़े होते हैं। वह कहा न ? 'वीरला जाणे तत्त्वने, वीरला सांभळे कोई'। वीरला माने... आहा..हा...! साढे चार पंक्ति है, साढे चार भी पूरी नहीं है। उसमें इतना भरा है।

द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों की बात (आ गई)। आहा..हा...! द्रव्य कैसा ? कि अनन्त पूर्ण गुण भरे हैं, ऐसा। और उसे पहिचानकर लीन होनेपर क्या होता है ? कि जितने अनन्त गुण हैं उतनी पर्याय में चमक प्रगट होगी। अंश व्यक्त होगा। आहा..हा...! कहो, भाई ! ये आपकी झवाहरात की मजदूरी में कुछ नहीं है। वह सब कोयला है। लाख पैदा करे, दो लाख पैदा करे तो.. आहा..हा...! और वह वहाँ पैदा करे। 'होंगकोंग'में। आहा..हा...! लाख रुपये यहाँ दिये, फलाने को दिये। लेकिन वह क्या है ? वह तो एक शुभभाव है, वह कोई धर्म नहीं है। आहा..हा...! उनके छोटे भाई है। वहाँ 'भावनगर' लाख रुपया दिया है। साहित्य सस्ता करने के लिये। वह तो होता है। बड़ा मेरु पर्वत करोड़ों का बनाये। वह जड़ की क्रिया तो उसके कारण होती है। वह आत्मा नहीं कर सकता। उसे करने का भाव हो। क्रोड़ों रुपये, अरबों रुपये खर्च करे वह तो शुभभाव है। मानार्थ-मेरी प्रतिष्ठा होगी (ऐसा भाव हो) तो वह तो पाप है। आहा..हा...! ऐसी बातें बहुत कठिन है, बापू ! आहा..हा..! बहुत सुन्दर पैराग्राफ है। पैराग्राफ कहते हैं न ?

मुमुक्षु :- संक्षिप्त में...

पूज्य गुरुदेवश्री :- संक्षिप्त में पूरा कस (भर दिया है)। शुरूआत से पूर्ण कैसे हो ? आहा..हा...! बाकी तेरी विद्धत्ता एक ओर पड़ी रहे। आहा..हा...! वह पैराग्राफ पूरा हुआ।

धार्मिक कार्यक्रम

सौम्यमूर्ति पूज्य भाईश्री शशीभाई के वार्षिक समाधिदिन पर तीन दिवसीय धार्मिक कार्यक्रम निम्नोक्त स्थान पर आयोजित किया गया है। चैत सुदी ३, रविवार दि.२२-३-२०१५ से चैत सुदी ५, मंगलवार दि.२४-३-२०१५ पर्यंत जिनमंदिर में मंडलविधान रखा गया है। एवं 'शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर' में प्रातः ७.०० से ८.०० पूज्य भाईश्री शशीभाई का सीडी प्रवचन, दोपहर ४.०० से ५.०० गुणानुवाद, रात ८.०० से ९.०० पूज्य भाईश्री शशीभाई का वीडियो प्रवचन एवं भक्ति रखी गई है। दि.२४-३-२०१५, चैत सुदी ५ के दिन सुबह ४.०० बजे 'शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर' में भक्ति एवं दो मिनट का मौन रखा जायेगा। तत्पश्चात ७.०० से ८.०० प्रवचन और बाद में पूज्य भाईश्री के समाधि स्थल पर भक्ति रखी गई है। इस प्रसंग पर आनेवाले मुमुक्षुओं के लिए आवास एवं भोजन व्यवस्था निःशुल्क रखी गई है। आनेवाले मुमुक्षु भाई-बहनों से विनम्र सूचन है की वे अपने आने कि सूचना पहले से दे, ताकि उनके आवास एवं भोजन की समुचित व्यवस्था हो सके।

संपर्क :- श्री सत्‌श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाडी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग, भावनगर, फोन : (०२७८) २५१५००५

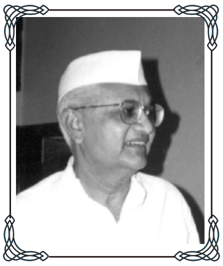

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार ग्रंथ के बोल-२५४ पर हुआ भाववाही प्रवचन

ता.२६-०५-१९८३, प्रवचन नं.१११ (विषय : विधि)

यह आत्मा स्पर्श-रस आदि गुणों से रहित और पुद्‌गल तथा अन्य चार अजीवों से भिन्न है, उसे भिन्न करनेका साधन तो चेतना-गुणमयता है। राग और विकल्प से भी भिन्न करने का साधन तो चेतना-गुणमयता ही है। जानन-शक्ति, चेतना-गुणमय-शक्ति यही आत्मा को अन्य द्रव्यों से भिन्न करने का साधन है। २५४.

२५४. यह १७२ गाथा जो 'प्रवचनसार' की अलिंगग्रहण की है, उसका वचनामृत है। यहाँ से यह वचनामृत शुरू होते हैं। कितने (हैं) ? चार वचनामृत उस पर हैं। उसके चार वचनामृत हैं। 'प्रवचनसार' १७२ गाथा।

'यह आत्मा स्पर्श-रस आदि गुणों से रहित और पुद्‌गल तथा अन्य चार अजीवों से भिन्न है, उसे भिन्न करनेका साधन तो चेतना-गुणमयता है। राग और विकल्प से भी भिन्न करने का साधन तो चेतना-गुणमयता ही है।' इसप्रकार लेना है। भेदज्ञान करना है तो भेदज्ञान का प्रयोग करने में प्रयोग का साधन क्या है ? उसका यह उत्तर है। आत्मा में जो चेतनागुणमयता है, वह ऐसे विलक्षण प्रकार से रहा है कि जो भिन्न तिरता है, भिन्न रहता है, किसी के साथ मिश्रित हुआ देखा नहीं जाता। स्पर्श, रस इत्यादि कि जो पुद्‌गल के गुण हैं, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द ये सब उसके जो (गुण) हैं। आदि में सब ले लेना। यह आत्मा उन पुद्‌गल के सर्व प्रकार के गुण से शून्य है। और वह पुद्‌गल और इसके अलावा अन्य चार अजीव हैं-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणु और आकाश, ऐसे जो '**चार अजीव से भिन्न है,...**' अब, यह पुद्‌गल और अन्य चार (अजीव द्रव्य), इन पाँचों अजीव से जो भिन्न है, वह भिन्न है, वह भिन्नरूप से जानने का, भिन्नरूप से ग्रहण करने का साधन क्या है ? भिन्न पड़ने का साधन क्या है ?

चेतनागुणमयता है वह साधन है। चैतन्यगुण है, सदा ही प्रगट है ऐसा और निरन्तर अनुभव में आ रहा है ऐसा, चेतनागुण है न ? ऐसा सदा प्रगट और निरन्तर अनुभव में आ रहा है ऐसा जो चेतनागुण है, उसके द्वारा पाँचों अजीव भिन्न पड़ जाते हैं। क्योंकि उनमें चैतन्यपना नहीं है। चेतनागुणमयता में चेतना, चेतना यानी अनुभवना, चेतना अर्थात् यहाँ वेदन करना। स्वयं को स्वयं का अनुभव हो रहा है ऐसा चेतनागुणमयपना-चैतन्यतत्त्व आत्मा में रहा है। चेतनागुणमयता आत्मा जो चैतन्यतत्त्वस्वरूप है उसमें रहा है। अर्थात् स्वयं स्वयं का अनुभव करे ऐसा गुणमयपना है, उसके द्वारा वह पाँचों अजीव से भिन्न पड़ जाता है-भिन्न हो जाता है। क्योंकि अपने अनुभव में स्वयं को अनुभवने पर ऐसा देखता है, ऐसा अनुभव करता है कि इसमें तो कोई अजीव का अनुभव नहीं होता।

कोई अजीव का अनुभव आत्मा में नहीं हो रहा है। आकाश आत्मा में अनुभव में नहीं आता। कालाणु आत्मा में अनुभव में नहीं आते, धर्मास्ति, अधर्मास्ति आत्मा में अनुभव में नहीं आते। जिसप्रकार वह चारों अनुभव में नहीं आते, वैसे ही पाँचवां पुद्‌गल भी आत्मा

में अनुभव में नहीं आता।

यहाँ थोड़ी दिक्कत होती है कि इन चारों का तो पता नहीं चलता लेकिन ये स्पर्श-रस का तो पता चलता है। दो बात ली है वह थोड़ी अनुभव से पकड़ में आती है न ? स्पर्श और रस। जीभ पर स्वाद आता है तब ऐसा लगता है कि मानो आत्मा में कुछ असर हुई। आत्मा के परिणाम पर कुछ असर हुई। स्पर्श में भी ऐसा लगता है कि मुझे आत्मा पर कुछ असर हुई। मुझे स्पर्श हुआ। स्पर्श हुआ, रसास्वाद आया, मुझे हुआ ऐसा लगता है।

कहते हैं कि, भाई ! तुम तो निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप हो, 'चित्स्वभावाय भावाय' निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप हो, निर्विकल्प चैतन्य अनुभवस्वरूप हो। उसमें ये रस, स्पर्श के भेद-विकल्प कहीं भी नहीं है। उसका प्रतिबिम्ब उठे तो भी उस ज्ञेयाकार को गौण रखने जैसा है।

मानो कि ज्ञान में स्पर्श ज्ञात हुआ, रस ज्ञात हुआ, तो वह ज्ञान में मुख्य करने जैसी चीज़ नहीं है। अभी आम की Season चल रही है। बहुत लोगों को आम बहुत अच्छे लगते हैं। लेकिन भाई ! वह ज्ञेयाकाररूप होता रस, ऐसा रस है, ऐसा रस है, इसप्रकार तुम उपयोग में मुख्य होकर तुम उस ओर जा रहे हो, इसके बजाय तुम तुम्हारे उससे शून्य मात्रज्ञान को देखो न, तुम अनुभव करो न, ऐसा कहते हैं। वह ज्ञान रसयुक्त नहीं होता। तुझे क्षणमात्र ऐसा लगता है कि मेरेमें कुछ आ रहा है। परन्तु वह तो निर्लेप ही रहता है। जैसे जीभ निर्लेप रहती है, वैसे ज्ञान भी उससे निर्लेप रहता है। या रस वहाँ चिपका रहता है ? भूल जाता है। थोड़ी देर बाद तो वह कैसा स्वाद था वह भी भूल जाता है। लम्बे काल के बाद तो बिलकूल भूल जाता है, ठीक ! ऐसा विषय है।

अब, एक क्षणिक भ्रान्ति में वह रुकता है कि मुझे.. मुझे.. मुझे.. मेरेमें मुझे ऐसा होता है। कहते हैं कि, इसप्रकार तुम्हारे ज्ञेयाकार ज्ञान को मुख्य करनेपर तुम्हारी जो ज्ञेयलुब्धता है, उसमें पर के साथ तन्मयता उत्पन्न हो जाती है। वह अशान्ति का कारण है, वह दुःख का कारण है, लो ! जीव को मूल में यदि कोई दुःख का कारण है तो यह है। ज्ञेयलुब्धता अथवा ज्ञान में ज्ञेयाकार उत्पन्न होनेपर उसकी मुख्यता-दोनों एक ही बात है। समझाने की शैली भिन्न-भिन्न है। ज्ञेयलुब्धता में ज्ञेय के निमित्त से बात चलती है। वही बात ज्ञान के निमित्त से करनी हो तो ज्ञानाकार की मुख्यता होती है। कहते हैं कि तुम अकेले निर्विकल्प ज्ञान को देखो। अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा सदा चैतन्यगुणमयता से अनुभव में आ रहा है। उससे भिन्न पड़ने का साधन है। यह बहुत मुद्दे का विषय है।

भेदज्ञान में किस साधन से भिन्न पड़ना ? जिसे आत्मानुभव करने की बहुत लगनी लगी है, ऐसा जीव जब भेदज्ञान करता है तब, दूसरे को तो भेदज्ञान होने का, प्रारम्भ करने का अवसर नहीं आता, विचार भले भेदज्ञान का करे। विचार अलग बात है, Practical बिलकूल अलग बात है।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि चैतन्य को पकड़कर। चेतनागुणमयता यानी चैतन्य को पकड़कर। निर्विकल्प चित्स्वरूप को पकड़कर राग से और पुद्गल से भिन्न पड़ने का जो साधन है, उस साधन से भिन्न हुआ जा सकता है और इससे अन्य कोई प्रकार इस विधि में नहीं है। इस प्रयोग से अतिरिक्त अन्य कोई प्रकार से वह कुछ करने जाय तो वह कल्पना में चढ़कर विपरीतता साधेगा। अर्थात् मिथ्यात्व दृढ़ करेगा। ऐसा है।

प्रत्यक्ष समागम को सत्शास्त्रों में जो विशेषरूप से बारंबार कहा गया है, उसका कारण यह है कि यह बात उसे प्रत्यक्ष योग के सिवा समझना होता नहीं। क्योंकि जो प्रत्यक्ष चैतन्य के अनुभववाले सातिशय परिणाम हैं और उस सातिशय परिणामपूर्वक जिनका वचनव्यवहार है यानी जिनके वचनों में इसकी झलक है, उसमें इसका संकेत

व्यक्त होता है। वस्तु तो ऐसी अन्दर में अनन्ती गूढ़ रह जाती है कि उसे अवक्तव्य है, ऐसा कहकर ज्ञानियोंको छोड़ देना पड़ता है। अनुभव का विषय अवक्तव्य है, ऐसा कहकर ज्ञानी भी छोड़ देते हैं, अनुभवी भी छोड़ देते हैं।

मुमुक्षु :– संकेत करके।

पूज्य भाईश्री :– संकेत करते हैं कि देख भाई ! यह चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. मात्र जो चैतन्य है, सामान्य चैतन्य है वह निर्विकल्प और निराकार है। ज्ञान में उत्पन्न हो रहे ज्ञेयाकार बिनाका है। राग और विकल्प बिनाका तो है, जड़ और पुद्‌गल बिनाका तो है, परन्तु तेरी अवस्था में हो रहे ज्ञेयाकारों के बिनाका वह चैतन्य है। यह साधन है, ऐसा कहना है। उसके द्वारा वह ग्रहण होता है। अन्य कोई विधि से ग्रहण नहीं होता। भेदज्ञान कैसे हो, यह विषय है।

मुमुक्षु :– प्रसंग–प्रसंग पर भी ज्ञान को मुख्य करे..

पूज्य भाईश्री :– निर्विकल्प चैतन्य को मुख्य करता है। ज्ञान को यानी यह जानता है, यह जानता है वह ज्ञान.. यह जानता है वह ज्ञान.. यह जानता है वह ज्ञान.. वह तो ज्ञेयाकार ज्ञान है। इस ज्ञेयाकार ज्ञान की मुख्यता तो ज्ञेयलुब्धतावश होती है। वह ज्ञेयलुब्धता परिणाम को पर में तन्मय करती है। सर्व गुणों के परिणामों को लीन करती है। इसलिये पूरी आत्मा पर में लीन हो जाती है। तब उसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और अव्रत–तीनों प्रकार के दोष गिने जाते हैं। द्रव्यलिंगी हो तो भी उसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और अव्रत है। पंच महाव्रत की दीक्षा अंगीकार की हो तो उसे अव्रत है, हाँ ! अभी तो चतुर्थ गुणस्थान हो तो भी अव्रत होता है, लेकिन वह सम्यग्दर्शन सहित का अव्रत है। द्रव्यलिंगी को भी। यह तो प्रथम गुणस्थान है।

मुमुक्षु :– सामान्य ध्रुव है उसे मुख्य करने की बात है ?

पूज्य भाईश्री :– सामान्य ध्रुव है, सामान्य चतन्य है उसका भी प्रगट लक्षण है। वह लक्षण भी निर्विकल्प और प्रत्यक्ष है, उसके द्वारा पूरे परिपूर्ण तत्त्व का अन्तर अवलम्बन लेना। यह अवलम्बन लेने से भिन्न पड़ जाता है, ऐसा कहते हैं। यह अवलम्बन भिन्न पड़ने का साधन है। अन्य कोई विधि से भिन्न पड़ा नहीं जाता। क्योंकि दिशा है न ? वह अन्तर दिशा में मुडे नहीं, परिणाम अन्तर्मुख न हो, तब तक उसे भिन्न कैसे पड़ना ? रागादि उसकी अवस्था में है। स्पर्श, रस का स्वाद, स्पर्शादि का ज्ञान उसके ज्ञान में ज्ञेयाकाररूप होता है। भिन्न कैसे पड़ना ? कि अन्तर्मुख जो तत्त्व है, उस ओर अन्तर में ढलने से चेतनागुणमयपने उसे ग्रहण करनेपर उससे भिन्न हुआ जाता है।

'उसे भिन्न करने का साधन तो चेतनागुणमयता है। राग और विकल्प से भी भिन्न करने का साधन तो चेतनागुणमयता है।' गाथा का यह मूल शब्द है। रूप, रस, गन्ध, अरस, संस्थान नहीं है, परन्तु चैतन्यगुणमयता है। अलिंगग्रहण है। अलिंगग्रहण के साथ–साथ एक शब्द लिया है–चेतनागुणमयता है। यह बात ली है। 'समयसार' में यह ४९वीं गाथा है। 'समयसार' में एक Paragraph चेतनागुणमयता पर बहुत सुन्दर लिया है। मूल गाथा लेते हैं।

जीव चेतनागुण, शब्द–रस–रूप–गंध–व्यक्तिविहीन है।
निर्दिष्ट नहीं संस्थान उसका, ग्रहण नहि है लिंगसे।।४९।।

यह नहीं.. यह नहीं.. यह नहीं... शब्द नहीं, रस नहीं, रूप नहीं, गन्ध नहीं, व्यक्ति नहीं, संस्थान नहीं, लिंग नहीं। वह सब तो नास्ति में जाता है। चेतनागुण अस्ति में जाता है और अस्ति से पकड़ में आता है। अस्ति से पकड़ में आये तब भिन्न पड़ता है। तब तक नहीं.. नहीं.. नहीं.. नहीं.. करने–से तो भिन्न होता नहीं। इतनी बात तो वेदान्त ने पकड़ी है।

वेदान्त दर्शन में जो बुद्धिवाले हुए, बहुत बुद्धिवाले

हुए, ऋषि, मुनि हुए, उन्होंने जो उनके तत्त्वज्ञान की रचना की है, उसमें यह विषय लिया है कि परब्रह्म। आत्मा यानी परब्रह्म कहा। परमब्रह्म कैसा है ? कि यह नहीं.. यह नहीं.. यह नहीं.. यह नहीं.. न इति.. न इति.. न इति.. न इति। कैसा है परमब्रह्म ? कि जिसे वेद नेति नेति कहकर पुकारता है, ऐसा है। ऐसा आता है। न इति यानी नेति। उसकी सन्धि हो जाती है। नेति नेति कहकर पुकारते हैं। यह नहीं.. यह नहीं.. यह नहीं। वह ये नहीं और यह है, इसप्रकार अस्ति–नास्ति दोनों से यहाँ एक ही गाथा में स्पष्ट किया है। उसमें यह चेतनागुण की बात है कि स्वयं के अनुभव में आ रहे चेतनागुण द्वारा सदा अन्तरंग में प्रकाशमान है अर्थात् वेदनगोचर है। प्रकाश यानी वेदन। स्वसंवेदन स्वरूप है इसलिये जीव चेतनागुणवाला है। इसप्रकार चेतनागुणवाला है। चेतनागुण की इतनी परिभाषा की है।

इसप्रकार वेदन से चेतनागुणयममयपने स्वयं को अनुभवने पर जीव भिन्न पड़ जाता है। यही एक भिन्न होने का, भिन्न करने का प्रकार है और वही सिद्धि का उपाय है, अन्य कोई आत्मसिद्धि का उपाय है नहीं। यह बात यहाँ ली है। विशेष लेंगे...

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार ग्रन्थ का बोल–२५४ पर हुआ भाववाही प्रवचन, दि. २७–५–१९८३, प्रवचन नं. ११२ (विषय : विधि)

(पुद्गल पर्यायों का) आत्मा को ज्ञान होनेपर भी वह स्पर्श, रस इत्यादि ज्ञान में ज्ञेयरूप होनेपर भी ज्ञान उससे भिन्न ही रहता है। अब, ज्ञान उससे भिन्न रहता है यह समझ में आये और ज्ञान उससे भिन्न रहता है ऐसा अनुभव में आये, इसप्रकार दो प्रकार हैं। क्या होता है ? प्रथम यह बात समझ में आती है। समझ में स्वीकृत होती है तब उसे वहाँ से आगे बढ़ना बाकी रहता है। जिसे समझन में स्वीकृत नहीं होती, जड़-पुद्गल पदार्थ और उसके गुण–पर्यायों से यह आत्मा भिन्न है, उससे शून्य है। शरीरादि पुद्गल एकक्षेत्रावगाह संयोग होनेपर भी उससे वर्तमान में ही भिन्न है और उससे शून्य है, शरीर बिना का है, ऐसा समझन में स्वीकृत न हो तब तो ज्ञान में अनेक विपरीत संस्कारों का अभी बहुत ज़ोर वर्तता है, ऐसा समझना चाहिये। लेकिन समझन में स्वीकृत हो कि, नहीं, बराबर है, यह बात ऐसे ही होने योग्य है, तब ऐसी स्वीकृत होनेवाली भूमिकामात्र से संतुष्ट होने जैसा नहीं है। कार्य तो तत्पश्चात् शुरू होता है, समझमें आ गया। अतः कार्य हुआ इस प्रकार नहीं लेकर समझमें आने पर कार्य शुरु होता है, कार्य का प्रारम्भ करना बाकी रहता है, ऐसा समझन में साथ–साथ होना चाहिये।

नहीं तो हमारे समाज में 'गुरुदेव' की कृपा से यहाँ तक तो बहुभाग जीव आ गये हैं कि जड़, पुद्गलादि अनेक पुद्गल के द्रव्य–गुण–पर्यायों से, शरीरादि से, रागादि से आत्मा भिन्न है, उससे शून्य है। इसकी तो लगभग समझन है। लेकिन यहाँ भिन्न पड़ने का साधन, ऐसे लिया है। अर्थात् भिन्न अनुभव करने का साधन क्या है ? इस विषय की यहाँ चर्चा करते हैं।

'**उसे भिन्न करने का...**' अर्थात् भिन्न अनुभव होने का '**साधन तो चेतना–गुणमयता ही है।**' आत्मा में जो चेतनागुण है उससे आत्मा संयुक्त है यानी नया संयोग हुआ है ऐसे नहीं, परन्तु वह चेतनागुणमयपने है। ऐसे लेना है। चेतनागुण वही उसका स्वरूप है। अथवा चेतनागुणमयपने आत्मा का स्वरूप है। इसप्रकार चैतन्य को ग्रहण करनेपर चैतन्य में स्वपना है वह अनुभवगोचर होनेपर, अपनत्व नया नहीं करना है, स्वयं चैतन्यस्वरूप है ऐसा अनुभव करनेपर '**राग और विकल्प से भिन्न करने का साधन तो चेतना–गुणमयता ही है।**' देखिये !

'**उसे भिन्न करने का...**' अर्थात् अजीव और पुद्गल

से भिन्न पड़ने का और '**राग और विकल्प से भिन्न करने का साधन तो चेतना-गुणमयता ही है।**' इसप्रकार क्षयोपशम में, बुद्धि में ऐसा लगे कि जड़ और पुद्गल से तो आत्मा भिन्न है। वह तो स्थूल बात लगती है। परन्तु राग और विकल्प से भिन्नत्व है वह थोडा सूक्ष्म लगता है। वास्तव में तो दोनों सूक्ष्म हैं। अनुभव की अपेक्षा लेनेपर तो अनुभव में तो दोनों उतने ही सूक्ष्म हैं। क्योंकि जो ज्ञेय ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं, तब एकत्व के कारण सीधा ही ऐसा अनुभव होता है कि मुझे ठण्डा लगा, यह गर्मी मुझे लगती है, यह खट्टा, नमकीन, तीखा रोज़ मुझे लगता है। मेरे में उसका असर होता है और यदि उसका असर नहीं होता हो.. तीव्र खारा हो, तीव्र कडुआ हो, सर के बाल खड़े हो जाय, ऐसा कहते हैं न ? कडुआ चिरायता आदि ऐसे द्रव्य हैं कि मानो अन्दर में कडुआपना व्याप्त हो जाता हो, ऐसा लगता है। वस्तुतः भिन्न चैतन्य के अनुभव में ऐसा नहीं है। उससे भिन्न रहना, यह थोड़ा सूक्ष्म विषय है।

लेकिन उसका फैंसला, उसका हल इसप्रकार है कि यदि चेतनागुणमयपने स्वयं है, ऐसा अनुभवगोचर करे यानी निर्विकल्प चैतन्य को स्वयं के रूप में ग्रहण करे, अपने अस्तित्व का वेदन करे, जो प्रकाशमान है उसे आविर्भूत करे, प्रकाशमान है अर्थात् वेदनगोचर है-वेदनस्वरूप है, उसे अनुभवगोचर करे, आविर्भूत होकर अनुभवगोचर करे तब वह उससे भिन्न हो सकता है। नहीं तो अनादि का अध्यास है-राग को, विकल्प को, स्पर्शादि को, रस इत्यादि को एकत्वरूप से, स्वयं के रूप में, स्वयं में अनुभव करने का जो अध्यास है, यह अध्यास उसे छूटता नहीं।

जीव का वेदन करने का स्वभाव है। वह, या तो अपने स्वरूप का वेदन करे, या तो पर को स्वयं के रूप में वेदन करे। लेकिन वेदन किये बिना तो रहनेवाला नहीं। अब, अनादि से पर को स्व के रूप में वेदता है, यह मिटाना है। इतना कार्य होना आवश्यक है, ऐसा देखकर यहाँ यह कहते हैं कि उसे भिन्न करने का साधन चेतनागुणमयता है। जो मय शब्द लिया है, वह स्वयं के रूप में, अभेद भाव से अनुभव करने का उसमें ध्वनि है।

वास्तव में तो चेतना का मतलब ही अनुभव करना है। ज्ञान में पर को जानने का एक खयाल पहुँचता है उस ओर नहीं ले जाना है इसलिये चेतना से बात ली है। १७-१८ गाथा में अनुभूति से बात ली है। वह अनुभवरूप भाव कहो या चेतनारूप भाव कहो, वह दोनों एक ही है। और वह अनुभव करने में स्वयं स्वयं का जो वेदन करता है उसमें कोई विकल्प का उत्थान इसलिये नहीं है कि वेदन करनेवाला और वेदन में आनेवाला, दोनों एक ही है। वेदनेवाला और वेदन में आनेवाला, दोनों एक ही हैं। जिस क्षण वेदन करनेवाला है, उसी क्षण वह स्वयं ही वेदन में आनेवाला है। अनुभव में आनेवाला भी स्वयं है और अनुभव करनेवाला भी स्वयं ही है।

पुनः अनुभव में आनेवाला वह तत्त्व स्वरूप से विकल्प रहित है, रागरहित है, जब पुद्गल और उसके गुण-पर्यायों से रहित है। इसलिये उसका अनुभव होता है, उसमें राग का अनुभव, विकल्प का अनुभव या जड़ का अनुभव होता नहीं। जब शुद्धोपयोग होता है तब स्पर्शादि विषयों का ज्ञान होता नहीं, ऐसा कहा जाता है। आता है ? 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में। जब निर्विकल्प अनुभव होता है तब स्पर्शादि विषय का ज्ञान होता नहीं, ऐसा कहने में आता है। ज्ञान नहीं होता, उसका मतलब क्या ? कि एकाकार चैतन्य को जहाँ उपयोग द्वारा अनुभव में लिया, वहाँ उपयोग का विषय एक काल में तो एक ही रहता है। एक काल में दूसरा विषय होता नहीं। तब उसे स्पर्शादि होनेपर भी उसका ज्ञान नहीं है। क्योंकि उसका उपयोग नहीं है। उपयोग अनुभूतिस्वरूप अथवा चेतनागुणमय ऐसा जो आत्मतत्त्व-अपना स्वरूप, उसके अनुभव में उपयोग जुड़ गया है। उसके अनुभव में उपयोग लीन हो गया है। इसलिये उस उपयोग को दूसरा विषय रहता नहीं। दूसरा विषय उपस्थित होनेपर भी वह ज्ञान में विषय नहीं होता। ज्ञान में उसे गौण करते.. करते.. करते

उपयोग(रुप) यह परिस्थिति आती है।

नहीं तो यह प्रश्न हो सकता है कि वह तो निर्विकल्प उपयोग हो तब की बात है, लेकिन सविकल्प उपयोग हो तब तो दूसरे पदार्थों में उपयोग जाता है और दूसरे पदार्थों में उपयोग जाता है तब, 'मुझे उसका अनुभव हो रहा है'-ठण्ड का, गर्मी का, स्वाद का इत्यादि का वैसा अनुभव हो तब क्या करना ? निर्विकल्प उपयोग तो जब होगा तब की बात तब है। उस वक्त भी उसका लक्ष्य नहीं करना, स्वरूप-आत्मा चैतन्यगुणमयपने है उसका लक्ष्य रखना। जिसका लक्ष्य होगा उसीकी मुख्यता होगी और बाकी सब गौण होगा।

अनुभव में आ रहे अनेक मिश्रित भाव होनेपर भी भेदज्ञान करने की विधि यह है कि चैतन्यगुणमयपने लक्षित होता आत्मा लक्ष्य में रहे तो अन्य मिश्रित भाव साथ होनेपर भी वह गौण हो जाते हैं, गौण रहते हैं। गौण करता है, ऐसा कहने में आता है, परन्तु वास्तव में गौण हो जाते हैं और गौण रहते हैं। उसे गौण किया ऐसा कहने में आता है। वह जो सविकल्प दशा में गौण करने की विधि है उसकी गौणता का यह फल है और चैतन्यगुणमयपने की मुख्यता का फल यह है कि उपयोग भी कालान्तर में निवृत्त होता है। उपयोग भी परपदार्थ को विषय करता.. करता.. करता.. करता.. परिणमित हो रहा है, विभिन्न प्रकारके ज्ञेयको जो उपयोग विषय करता है वह विभिन्न प्रकार के विषय विषयभूत होने के काल में भी गौण होते हैं, तब उसका उस ओर का परसन्मुखता का ज़ोर कम होता है। पहले उसका बल कम होता है फिर उसका एकत्व टूटता है और वह उपयोग वहाँ से निवृत्त होकर अपने निज स्वरूप में लीन होता है।

उसके दो पहलू मुख्य हैं-एक तो परपदार्थ में सुख नहीं है। ऐसा उसे प्रत्यक्षरूप से प्रतिभासित होता है और परपदार्थ को विषय करने जानेवाला उपयोग उस काल में दुःखभाव को जन्म देता है, दुःख को जन्म देता है ऐसा भी उसे प्रत्यक्ष लगता है। और उन सर्व पदार्थों की कोई क़ीमत नहीं रही होने से ज़गत के समस्त पदार्थ निर्मूल्य हो गये होने से, उसका मूल्यांकन चला गया होने से, उसका आकर्षण उसे मोहभाव से होता नहीं, महिमा से होता नहीं।

उसका दूसरा पहलू ऐसा है कि आत्मा जो चैतन्यगुणमयपने है वह सुखमय है, अनन्त सुखस्वरूप है इसलिये उसकी सामर्थ्य की अनन्त महिमा उसकी समझ में है, उसके अभिप्राय में है। इसलिये उस ओर का एक आकर्षण अन्दर में प्रगट हुआ है। इसलिये वह उपयोग वहाँ से निवृत्त होने की पूर्ण सम्भावना वहाँ उत्पन्न हो जाती है। बहुत परिपक्व होकर उपयोग अन्दर आता है। जबरदस्ती, हठ से खीँचकर किसी का उपयोग अन्दर नहीं आता, आ सकता भी नहीं।

कोई ऐसा कहे कि, एकान्त में बैठकर ऐसी समाधि लगाऊँ कि निर्विकल्प शुद्धोपयोग लेकर ही खड़ा होऊँगा। इसप्रकार कोई खीँचकर बाहर से उपयोग अन्दर लाना चाहे तो क्रोड़ों उपाय से भी नहीं होता। कोटि उपाय से भी, ऐसा लिया है। एक-दो नहीं परन्तु क्रोड़ बार ऐसा करे यानी अनेक बार करे तो ऐसे नहीं होता। उसकी वास्तविकता है। और इस वास्तविकता में इतनी भूमिका परिपक्व हो गई होती है कि परपदार्थ प्रति जानेवाले उपयोग में उसे साथ-साथ राग भी उत्पन्न होता होने से उसका दुःख अनुभव में आता है। जो भी पदार्थों को विषय करनेपर वह पदार्थ महिमा रहित, निर्मूल्य, निकम्मे, सुख रहित, खाली बक्से जैसे भासित होते हैं, शून्य भासित होते हैं।

ज्ञान की विपरीतता में और अविपरीतता में यह फ़र्क़ पड़ता है। विपरीतता में उसे संयोग भरेपूरे लगते हैं। यह मेरा घर, मेरा कुटुम्ब, मेरा मण्डल, यह मेरा Circle और यह मेरा समाज़, यह सब मेरा.. मेरा.. मेरा.. मेरा.. उसे भरापूरा आबाद लगता है। यह उसका ज्ञान का विपर्यास है। अविपरीत ज्ञान होनेपर अथवा भूमिका का ज्ञान निर्मल होनेपर भी उसे वह सब खाली.. खाली.. खाली लगता है। उसे कहीं रस नहीं आता।

अन्दर में स्थिर होकर लीन होने का एक ही परम

शान्तस्वरूप जो है वहीं उसका चित्त स्थिर होना चाहता है। इसप्रकार स्थिर नहीं हुआ जाता, तब बाह्य में ऐसा कहनेवाला कोई हो, ऐसे सत्पुरुषों के संयोग में रहने की चित्त में भावना रहती है। इसप्रकार अन्तर-बाह्य दो प्रकार बनते हैं। अन्तर सत् में चित्त स्थिर होना चाहता है। बाह्य में कोई सत् को धारण करनेवाले हो वहाँ उसका चित्त स्थिर होना चाहता है। इसके अलावा उसे दूसरे कोई संयोग में रस नहीं आता। और फिर भी जितने परिणाम उस ओर जाय, उसमें उसे दुःख लगता है। दुःख लगता है इसलिये उसका निषेध आता है, हटने की वृत्ति हो जाती है। वहाँ से हटने की परिणाम में जो वृत्ति रहती है, वही उसकी भूमिका को परिपक्व करते.. करते.. करते.. उपयोग को भी वहाँ से निवृत्त कर देता है। सहजरूप से उपयोग पर में जाता हुआ अटकता है और अनन्त महिमावन्त ऐसे निज शुद्ध स्वरूप में वह स्थिर हो जाता है। वह स्थिर होते ही प्रथम क्षण में अनन्त भव का छेद उड़ाता है, अनन्त भवकटि होती है। इसलिये यह लिया।

यह अन्तर अभ्यास का विषय है। अन्दर अभ्यास करे। चैतन्य को ग्रहण करने का, चेतनागुणयस्वरूप मैं हूँ, ऐसे अपने अस्तित्व को, मौजूदगी को अनुभव करने का प्रयास करे अर्थात् आविर्भूत करने का अभ्यास करे, यह उसे भिन्न करने का साधन है। इसमें अस्ति स्वभाव चेतनागुणमयपना है वह मुख्य है। आचार्यों ने और त्रिकालवर्ती ज्ञानियों ने यह साधन प्रदर्शित किया है। यह अभिन्न साधन है। अपने में रहा यह स्वयं से अभिन्न साधन है। उसे कहीं बाहर लेने जाना पड़े ऐसा नहीं है।

'राग और विकल्प से भी भिन्न करने का साधन तो चेतना-गुणमयता ही है।' चेतना स्वभाव। गुण यानी स्वभाव। चेतना स्वभावमयस्वरूप स्वयं हैं। ऐसे अपने अनुभव से, अनुभूति स्वरूप को, अनुभूति के स्वभाव को, पूर्ण स्वभाव को स्वयं के रूप में ग्रहण करे तब वह भिन्न होता है। इससे अतिरिक्त भिन्न होने का अन्य कोई साधन है नहीं। साधन नहीं है, रीत नहीं है, विधि नहीं है। यही एक विधि है।

मुमुक्षु :- कोटि वर्षनुं स्वप्न पण जागृत थतां शमाय।

पूज्य भाईश्री :- जागृत होनेपर अर्थात् 'मैं चैतन्यमय हूँ', इसप्रकार जागृति आये तब उसे अनादि का विभाव चलता होनेपर भी 'मैं वैसा नहीं हूँ', ऐसा उसे ज्ञात होता है। जैसे स्वप्न पूरा होनेपर तत्क्षण, जागृति में तत्क्षण ऐसा खयाल आता है कि स्वप्न में मुझे जैसा मेरा अनुभव हुआ वैसा मैं नहीं हूँ। वैसा अभी नहीं हूँ और स्वप्न चल रहा था तब भी मैं वैसा नहीं था। बराबर है ? जब स्वप्न चल रहा था तब जो अनुभव हुआ कि मैं ऐसा, वह तो जूठ का अनुभव था। वह सत्य नहीं था। इसप्रकार स्वयं के चैतन्यस्वभावमयता का भान होता है, अनुभव होता है तब अनादि से चला आ रहा जो विभाव, वैसा मैं नहीं हूँ, ऐसा ज्ञान होता है। वह जागृति में-चैतन्य की जागृति में ऐसा ज्ञान होता है।

जब एकत्वरूप से अनुभव किया था तब भी मैं वैसा नहीं हो गया था, ऐसा जागृति में ज्ञान होता है। यह मनुष्यादि पर्याय वर्तती है उस मनुष्यत्वरूप, मनुष्यस्वरूप मैं नहीं हूँ, मैं तो प्रत्यक्ष निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप हूँ, एकाकार चैतन्यस्वरूप हूँ, ऐसा उस जागृति में आता है। मनुष्यादि जो बाह्य में स्वांग दिखता है, वह ज़गत के जीवों को व्यवहार करने का निमित्तमात्र है। ज़गत के जीवों को उसके द्वारा व्यवहार करने का निमित्त है। परन्तु वास्तव में अन्दर में मैं ऐसा नहीं हूँ, ऐसा उसे भान होता है। तब उसे ज़गत के वह समस्त व्यवहार और पूरी सृष्टि गौण हो जाती है। किसी-भी प्रसंग की उसे मुख्यता नहीं होती। वास्तव में तो किसी भी प्रसंग को वह आत्मा का प्रसंग गिनते ही नहीं। किसी भी प्रसंग को वह आत्मा का प्रसंग नहीं गिनते। तो उसे क्या गिनते हैं ? कि उसे कर्मप्रसंग गिनते हैं। उदय प्रसंग कहो या उसे कर्म प्रसंग कहो। वह तो कर्म का प्रसंग मेरे स्वरूप से बाहर होता है कि जिससे मेरा लेना-देना नहीं, मुझे सम्बन्ध नहीं। ऐसा जो उसका परिणमन है उसे भिन्न हुआ परिणमन, भिन्न हुआ परिणमन, ऐसा कहने में आता है।

मुमुक्षु :– हमे कोई पहचानेगा नहीं।

पूज्य भाईश्री :– नहीं पहचाने तो तुझे पहिचान करवाकर काम क्या है ? इतना सवाल है। दूसरा पहचाने तो तुझे सुख भी नहीं और दूसरे पहचाने तो तुझे दुःख भी नहीं। तेरा जो सुख–दुःख का प्रयोजन है, उसे दूसरे की पहचान से कोई लेना–देना नहीं है।

इस विश्व में सब–से बड़े कौन हैं ? कहिये, भाई ! इस विश्व में कौन–से जीव सबसे बड़े हैं ? चलो पर्याय से। वैसे तो सभी समान हैं। परन्तु बड़े कौन हैं ? सिद्ध परमात्मा सब से बड़े हैं। पर्याय से सिद्ध परमात्मा सब से बड़े हैं कि नहीं ? कितने सिद्ध परमात्मा हैं ? अनन्त हैं। उन्हें कौन पहिचानता है ? यह मेरा सवाल है। क्योंकि किसी का नाम तो रहा नहीं। अनामी ऐसे आत्मतत्त्व को अशरीरी दशा प्राप्त होनेपर किसी का नाम नहीं रहा। क्योंकि नाम शरीर का था, नाम शरीर का था। वह सब शरीर की सब अन्तिम क्र्याएँ हो गई। निर्वाण पर्यन्त की अन्तिम क्रियाएँ हो गई। वह तो शरीर की क्रियाएँ शरीर में हो गई। अब सबसे बड़े जो आत्मा हैं, सिद्धात्मा हैं, परमात्मा हैं, उन्हें कोई पहचानता नहीं उसका तुझे कोई ऐतराज नहीं, परन्तु यह शरीरधारी तू फलाना, उसे नहीं पहचाने तो तुझे चैन पड़ती नहीं।

मुमुक्षु :– अरिहन्त और सिद्ध..

पूज्य भाईश्री :– लेकिन अरिहन्त भगवान को तो अभी नाम है। अरिहन्त भगवान को नाम है। अरिहन्त भगवान को सब पहचानते हैं कि यह अमुक तीर्थंकर, यह अमुक केवली। इसलिये यहाँ जो अपने दृष्टान्त लेना है उसमें अरिहन्त भगवान का दृष्टान्त लागू नहीं होता। दूसरा, अरिहन्त भगवान तेरहवें गुणस्थान में है। फिर चौदहवे गुणस्थान में आरूढ़ होना बाकी है। और उससे ऊपर जो सिद्ध दशा है वह सिद्धात्मा की सर्वोत्कृष्ट दशा है। इसलिये ऐसे अरिहन्त से सिद्ध परमात्मा की दशा सर्वोत्कृष्ट है। अरिहन्त से भी। समझा जाय तो। फिर भी सर्वोत्कृष्ट दशाधारक परमात्मा को कोई पहचानता नहीं। अन्यमति तो ऐसा मानते ही नहीं कि ऐसे अनन्त सिद्ध परमात्मा हैं। लो, ठीक ! अन्यमति कितने ? बहुमति तो उनकी है। बहुमति से प्रस्ताव करो कि सिद्ध परमात्मा को पहचानना नहीं और मानना नहीं।

... परिपूर्ण सिद्ध होने का ध्येय बाँधा है कि जिसे कोई पहचाननेवाला नहीं है। हाँ ! इतनी बात है कि यदि तूने ऐसा ध्येय बाँधा हो कि इस ज़गत में मुझे सब पहचाने तो अच्छा, बहुत लोग जाने तो अच्छा और पूरी दुनिया पहचाने तो अच्छा, अच्छे प्रकार से, हाँ ! वैसे तो बूरे आदमी होते हैं उन्हें भी सब पहचानते हैं। राम के सामने रावण की प्रसिद्धि हुई, गांधीजी के सामने गोडसे की प्रसिद्धि हुई। वह ग–ग आया, र–र आया। वैसे नहीं। अच्छे प्रकार से, अच्छी प्रतिष्ठा से पूरी दुनिया मुझे पहचाने, ऐसा जीव को एक व्यामोह रहता है। यह क्या है ? व्यामोह है यानी कि वह जीव की भ्रमणा है। भ्रमणा इसलिये है कि उससे जीव को कोई लाभ नहीं है। अपितु ऐसे लक्ष्यवाले परिणमन से उसे दुःख होता है। वह दुःखी होता है परन्तु उसे दुःख की खबर नहीं है और भ्रमणा में और व्यामोह से उसे रस चड़ता है कि मुझे सब पहचाने तो अच्छा.. मुझे सब पहचाने तो अच्छा.. मेरी प्रसिद्धि हो तो अच्छा, मेरा नाम छपे तो अच्छा, मेरी तस्वीर छपे तो अच्छा, मेरा सन्मान समारम्भ हो तो अच्छा, अरे..रे...! बापू ! तू सर्वोत्कृष्ट पदधारी, सिद्धपदधारी, उच्छपदधारी, नीचपद में बडप्पन मान मानकर राचता है। तेरी भ्रमणा भी कोई कम नहीं।

(प्रवचन का शेष अंश अगले अंक में...)

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (फरवरी–२०१५) का शुल्क श्री बेलाबहन महेन्द्रकुमार जैन, भावनगर के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

पूज्य भाईश्री द्वारा लिखित 'अनुभव संजीवनी' ग्रंथमें से कुछएक वचनामृत

व्यवहार परत्वे किसी भी तरह, किसीके संबंधसे (धार्मिक क्षेत्रमें) लाभ लेनेका स्वप्नमें भी इच्छनीय नहीं है। (वह दर्शनमोहके आवरणका कारण है।)

मुमुक्षुके पुरुषार्थका Back Ground : (पार्श्वभुमि) तो यह है कि, थोड़े कालका एक जन्म (भव) प्रारब्ध अनुसार पसार कर लेना; उसमें दीनता करनी उचित नहीं है - ऐसा दृढ़ निश्चय रखने योग्य है। अन्यथा पुरुषार्थ उठेगा ही नहीं। सर्व प्रसंगमें सहज भावसे प्रवर्तन करनेका अभ्यास हो, तो निवृत्ति रहे, अन्यथा प्रवृत्ति / उपाधि मोल लेनी पड़े। इस प्रकारकी दशाके लिये बार-बार प्रयत्न करे तो भव-उदासीपना सिद्ध हो। (२४४)

लोकसंज्ञा एवं ओघसंज्ञाकी वृद्धि होने पर, परमार्थके विषयमें जीवको कल्पना होने लगती है। ऐसी कल्पना वास्तविक वस्तुस्वरूपसे विपर्यासरूप है, भवके कारणरूप है। अत: ओघसंज्ञाकी निवृत्तिके लिये जागृत रहकर पुरुषार्थ कर्त्तव्य है। प्रमादमें ओघसंज्ञा चालु रहे - वह हानिकारक है। लोकसंज्ञा तो प्रत्यक्ष ज़हर ही है। (२४५)

जून - १९८८

ज्ञानीका उपजीवन अर्थात् देहादिक संबंधी बाह्यप्रवृत्ति पूर्वकर्म अनुसार होती है। ज्ञानको (स्वरूपको) प्रतिबद्धता हो, ऐसा कुछ भी वे नहीं करते - करनेके प्रसंगकी इच्छा भी नहीं है। स्वरूप-अप्रतिबद्धताके लिये जो भी पूर्वकर्म अनुसार उदय हो वह उन्हें सम्मत है। ऐसा दृढ़ निश्चय जिन्हें स्वरूपआश्रित हुआ है उन्हें नमस्कार हो ! (२४६)

जिसका दर्शनमोह बलवान होकर वर्तता है और इस कारणसे जो प्रत्यक्ष ज्ञानी - सत्पुरुषसे विमुख वर्तते हैं, ऐसे जीवोंको सत्पुरुषकी अवज्ञा बोलनेका निमित्त हमारे कारणसे नहीं हो, इतना उपयोग (सावधानी) रखकर प्रवर्तन करना योग्य है, बेसावधानीको (इस विषयमें रखना) दोष जानना।

सत्पुरुषका अवर्णवाद करना, उसमें उत्साहित होना, वह जीवके अनंत संसार बढ़ जानेका कारण है। जब कि सत्पुरुषके गुणग्राम करना, उसमें उत्साहित होना, उनकी आज्ञा पर 'सरल परिणामसे' उपयोगपूर्वक चलना - वह अनंत संसारके नाशका कारण है। - यह अनंत तीर्थंकरोंने कही हुई बात है। (कृपालुदेव) (२४७)

मुमुक्षुजीवको सिद्धांत और अध्यात्म सम्बन्धित ज़रा सा भी विपर्यास नहीं हो जाये उसकी अत्यंत सावधानी रखनी जरूरी है वरना मिथ्या आग्रहपूर्वक कहनेसे / दूसरोंको प्रेरणा देनेसे, खुदको बोध होनेकी योग्यताको आवरण आता है; ऐसा जानकर निरावरण होनेके लक्ष्यसे भी दोषित प्रवृत्तिसे अटकना / जागृत रहना हितावह है। भवभीरु जीव जागृत रहकर ऐसे दोषसे बचता है। खास करके अध्यात्मरससे विमुखता नहीं हो, वह गंभीरतासे लक्ष्यमें लेने योग्य है। (२४८)

समर्थ ज्ञानीपुरुषके प्रगट आत्मस्वरूपको कहे हुए (दर्शाते हुए) वचन भी जीवको लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा एवं असत्संगकी रुचिके वशात्, निज स्वरूपका विचार / निश्चय करनेके बलकी उत्पत्तिमें सफल नहीं होते हैं। उक्त अवरोधक कारणको साक्षात् आत्मघाती जाने बिना जीवको स्वस्वरूपका निश्चय होना - भावभासन होना अत्यंत दुर्लभ है। (२४९)

वेदनीय आदि कर्मके उदयको भोगे बिना छूटनेकी इच्छा ज्ञानीपुरुष नहीं करते हैं, अगर करते हैं तो वह ज्ञानी नहीं बल्कि देहाध्यासी अज्ञानी है। देहाध्यासी अज्ञानी ही ऐसी इच्छा रखते हैं, ज्ञानीको तो भेदज्ञान वर्तता होनेसे वेदनाका भय नहीं होता, परंतु वेदनाके उदयकालमें ज्ञानी विशेष पुरुषार्थ परायण सहज ही रहते हैं। सर्वकालमें होने योग्य ही होता है । अत: ऐसे सम्यक् समाधानपूर्वक आकुलता करने योग्य नहीं है। जो कोई भी आकुलता करता है वह अपराधी होता है, फिर भी जो होना होता है वही होता है – इसलिये ज्ञानपूर्वक अपराधको छोड़ने योग्य है। (२५०)

आत्माको मूल ज्ञानसे च्युत कर दे ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाय ऐसा विकट प्रारब्धोदय अथवा गिरनेके भयंकर स्थानक – प्रसंगोंमें जागृत रहकर, सावधान रहकर, जिन्होंने तथारूप पुरुषार्थ करके आत्मसिद्धिको हासिल की है, उन सत्पुरुषोंके पुरुषार्थको स्मरणमें लेते ही रोमांचित आश्चर्य होता है – यथावत् भक्ति उत्पन्न होती है। ''अहो ! ज्ञानीपुरुषकी आशय गंभीरता, धीरज और उपशम ! अहो ! अहो ! वारंवार अहो !'' – श्रीमद् राजचंद्रजी (२५१)

दुष्कर ऐसी तृष्णाका यथार्थ पराभव होनेके लिये परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीने मुमुक्षुको बोधमें दिये हुए उपदेशके मुद्दे :–

१. आत्महितकी तीव्र जिज्ञासाके वशात् भोगादिके प्रति नीरसता, मंदरस होना।

२. लौकिक विशेषता दिखानेकी बुद्धि अर्थात् लोकसंज्ञाको कम करनेसे (तृष्णाका पराभव हो सकता है।)

३. लौकिक विशेषतामें कुछ भी सारभूतपना नहीं है ऐसे निश्चयसे – ऐसी समझसे लोकसंज्ञाको तोड़ना ।

४. सिर्फ आजीविकाके अलावा विशेषका कोई प्रयोजन भासित नहीं होना, अत: मंद(रस) परिणामसे व्यवसायमें प्रवृत्ति करना – इससे जो आमदानी हो उसमें संतुष्ट रहना ।

५. सत्पुरुषके प्रति 'अनन्य आश्रयभक्तिसे' प्रवर्तन होना।

६. पूर्वकर्म अनुसार समाधिभावसे प्रारब्धको भोगनेमें दीनता नहीं करना और आयुष्यका शेष अल्पकाल होनेसे आत्महितकी मुख्यता रखना। (२५२)

एकभवके शेषकालको पूर्वकर्म अनुसार भोग लेना, उसके लिये भविष्यकी चिंताके वश, नये कुकर्म नहीं बाँधना है, ऐसा मुमुक्षुजीवका अभिप्राय एवं निश्चय होता है; इसलिये (पालन–पोषण) उपजीवन जितना ही मिले तो भी उसमें भी संतुष्ट होता है, क्योंकि विशेषका कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिये मुमुक्षुजीव मुख्यरूपसे आत्महितका ही विचार व उद्यम करता है। देह एवं देह संबंधी कुटुम्बकी महत्ताके हेतुसे परिग्रह और प्रवृत्ति बढ़ानेका स्मरण भी नहीं होने देता। वरना तो आत्महितका अवसर ही नहीं रहे, ऐसा यह काल है। इसमें शिथिलता कर्त्तव्य नहीं है। (२५३)

जुलाई – १९८८

केवल अंतर्मुख होनेका बोध श्री तीर्थंकरादि महत् पुरुषोंने फरमाया है, जो कि सर्व दु:खके क्षयका उपाय है। विशुद्धमतिसे और तीव्र पुरुषार्थसे अंतर्मुख होनेका प्रयास होना जरूरी है। मनुष्य पर्याय उसके लिये उत्कृष्ट अवसर है; उसमें प्रमाद होता है, वह खेददायक है। (२५४)

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

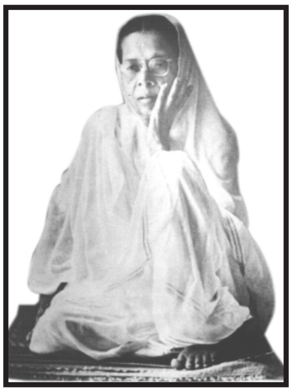

प्रश्न :– निर्विकल्पदशाके कालमें ज्ञान द्रव्य–गुण–पर्याय–तीनोंको जानना है तथापि उसमें राग उत्पन्न नहीं होता ?

समाधान :– साधक तीनोंके भेद नहीं करता, निर्विकल्पदशामें भेद करनेको नहीं बैठता। वह तो उन्हें सहज जानता है। पर्यायका वेदन और द्रव्यका स्वभाव उसे अंतरमें सहज एकसाथ ज्ञात होता है; वह विकल्पसे भेद करने नहीं बैठता; उपयोग भेद किये बिना एकसाथ सब जान लेता है।

(स्वानुभूतिदर्शन–४२९)

❖

प्रश्न :– बुद्धिपूर्वक भेद करे तो राग उत्पन्न होता है ?

समाधान :– हाँ, परन्तु बुद्धिपूर्वक भेद नहीं करता कि यह गुण है और यह पर्याय है। वह तो सहज ज्ञात होते हैं, द्रव्य–गुण–पर्यायके भेद नहीं करता, उसके वेदनमें सहज आ जाते हैं। **(स्वानुभूतिदर्शन–४३०)**

❖

प्रश्न :– ज्ञानीको सविकल्पदशामें अनेक प्रकारके विचार चलते हैं, तो उनमें उसे कर्तृत्व नहीं होता ?

समाधान :– उसका कोई विचार करनेका अभिप्राय नहीं होता। उसे तो ज्ञायककी–निर्विकल्पस्वरूप आत्माकी–दृढ़ श्रद्धा है। यद्यपि उसे श्रुतके विचार आते हैं तथा गृहस्थाश्रममें होनेके कारण तत्सम्बन्धी विचार भी होते हैं, क्योंकि वह कोई मुनि तो हुआ नहीं है–बाह्याभ्यन्तर सर्वसंग परित्यागी नहीं हुआ है। उसे श्रद्धामेंसे सब छूट गया है इसलिये कोई सूक्ष्म विकल्प या उच्च से उच्च शुभ विकल्प किसीकी इच्छा नहीं रखता। ऐसे सर्व प्रकारसे उसे ज्ञायककी परिणतिमें से सब छूट गया है। ऐसी उसकी ज्ञायककी धारा है। तथापि उसको गृहस्थाश्रम सम्बन्धी विचार आते हैं; परन्तु पुरुषार्थकी डोर हाथमें होनेसे किसी प्रकारके विचार मर्यादा छोड़कर–ज्ञायककी मर्यादाका उल्लंघन करके–नहीं आते, अनन्तानुबंध हो ऐसे कोई विचार नहीं आते। उसे प्रत्याख्यानीय एवं अप्रत्याख्यानीयरूप ही अस्थिरता सम्बन्धी विचार होते हैं। अशुभसे बचनेके लिये वह शुभमें आता है, परन्तु ज्ञायककी धारा तो उसे वर्तती रहती है। **(स्वानुभूतिदर्शन–४३१)**

❖

प्रश्न :– ज्ञानीको मिश्रधारा वर्तती है; उसमें आस्रवके कर्ता–कर्मादि षट्कारक परिणमनमें कौन प्रवर्तता है ?

समाधान :– आत्मा स्वयं अपना कर्ता है, ज्ञानीको ज्ञानमें कर्ता–कर्मपना है, विभावका विभावमें है। उसे जो अस्थिरता है उसमें स्वामित्वबुद्धि नहीं है, उसका कर्तापना एकत्वबुद्धिसे नहीं है। कर्ता–कर्मपना अस्थिरताके परिणमनकी अपेक्षासे कहा जाता है। वास्तविक कर्ताबुद्धि–स्वामित्वबुद्धि छूट गई है। **(स्वानुभूतिदर्शन–४३२)**

❖

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि को तीव्र या मन्द कैसे आस्रव होते हैं ?

समाधान :– तीव्र–मंद होते हैं, परन्तु वे कोई ऐसे नहीं होते कि उसका सम्यग्दर्शन छूट जाय, ऐसे आस्रव उसके

परिणनमें नहीं होते। उसकी अंतरंग भूमिका कोई अन्य प्रकारकी होती है। किसी भी रागकी वह इच्छा नहीं रखता, रागको विषरूप मानता है। उसका राग मर्यादित होता है। ज्ञायक ही चाहिये, किसी भी तरह विभाव चाहिये ही नहीं; विभाव हेयबुद्धिपूर्वक है; उच्चसे उच्च शुभभाव भी अपना स्वरूप नहीं है–ऐसी जिसकी परिणति है वहाँ अशुभका उदय कहाँ असर कर सके! उसकी भेदज्ञान–धारा टूटे–ज्ञायककी परिणति टूट जाय–ऐसे कोई उदय उसके पास नहीं होते। उसके पुरुषार्थकी धारा चलती ही रहती है।

अमुक प्रकारकी भूमिका हो तभी सम्यग्दर्शन होता है और टिकता है, नहीं तो सम्यग्दर्शन टिक नहीं सकता। अन्तरमें वैसी पात्रता हो, भीतर विभावका रस छूट जाय, ज्ञायकका रस अन्तरंगसे प्रगट हो, ज्ञायककी ऐसी महिमा आये तभी सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। जहाँ सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ वहाँ उसकी ज्ञाताधाराको उदय क्या कर सके ? (कुछ नहीं कर सकता) **(स्वानुभूतिदर्शन–४३३)**

❖

प्रश्न :– उदय कमजोर (मंद) हो तभी तो लीनता विशेष करता है न ?

समाधान :– उदय कमजोर हो तब लीनता विशेष करे ऐसा नहीं, किन्तु लीनताविशेष हो तब उदय कमजोर ही होते हैं। उसके पुरुषार्थकी धारा ऐसी होती है कि उसके उदय मंद ही होते हैं, कर्मोंका मंद उदय हो तब (लीनता) कर सके ऐसा नहीं होता, किन्तु स्वयंका पुरुषार्थ इतना जोरदार है कि उदय कोई असर नहीं कर सकता। जितनी गृहस्थाश्रममें स्थिति है उतनी अपने पुरुषार्थकी मन्दता के कारण है। वह समझता है कि इसी क्षण छूटा जा सके तो मुझे सर्वस्वरूपसे अपना ज्ञायक ही आदरणीय है। सांसारिक कोई भी भाव उसे आदरणीय है ही नहीं; इतना श्रद्धाका बल है। अंतरश्रद्धामें से सब छूट गया है। यदि वह श्रद्धाका बल टूटे तो एकत्वबुद्धि हो जाय; परन्तु श्रद्धाका बल टूटता ही नहीं। ज्ञायककी परिणति इतनी बलवान है। **(स्वानुभूतिदर्शन–४३४)**

❖

प्रश्न :– ज्ञानी उदयसे निरपेक्ष अपनी ही धारामें रहता है ?

समाधान :– ज्ञानीको अमुक प्रकारके उदय आते हैं, परन्तु उनसे भिन्न स्वयं ज्ञायकरूप ही रहता है। उदय ऐसा प्रभाव नहीं करता कि ज्ञायककी परिणति को तोड़ सके। उदय मर्यादामें होते हैं। **(स्वानुभूतिदर्शन–४३५)**

❖

प्रश्न :– हम तो शुभपरिणामोंसे आगे बढ़ ही नहीं सकते, तो क्या करें ?

समाधान :– विकल्प बीचमें आते हैं अर्थात शुभभाव आते हैं; परन्तु शुभके पीछे अपनी गति ज्ञायक की ओर रहनी चाहिये, विकल्पोंमें स्थित है, इसलिये बीचमें विकल्प आते रहते हैं; परन्तु उनके पीछे शुद्धात्माका ध्येय होना चाहिये कि वह कैसे प्रगट हो ? ऐसी परिणति अंतरमें प्रगट करनेका प्रयत्न करे तो होती है, वारंवार उसके पीछे पड़े तो होती है। न हो तबतक वैसा प्रयत्न करते रहना। मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, ऐसे शुभविकल्पोंके पीछे आत्माका ज्ञानस्वभाव है उसे ग्रहण करना। गुणभेदपर नहीं, एक अखंड द्रव्यपर दृष्टि करनी है; परन्तु अनादिसे बाह्य अभ्यास हो गया है इसलिये (ग्रहण) नहीं होता। मन्द–मन्द पुरुषार्थ करे तो नहीं होता, प्रतिक्षण वैसा उग्र पुरुषार्थ करे तो होता है। प्रतिक्षण अपना जीवन ज्ञायकमय हो जाय तो प्रगट होता है। **(स्वानुभूतिदर्शन–४३६)**

❖

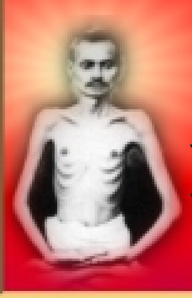

धन्य आराधना
(कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी द्वारा व्यक्त हुए स्वयं की अंतरंगदशा पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)

३८५

बंबई, आषाढ़, १९४८

'यद्यपि हमारा चित्त नेत्र जैसा है, नेत्रमें दूसरे अवयवों की भाँति एक रजकण भी सहन नहीं हो सकता। दूसरे अवयवोंरूप अन्य चित्त है। हमारा जो चित्त है वह नेत्ररूप है, उसमें वाणीका उठना, समझाना, यह करना, अथवा यह न करना, ऐसा विचार करना बहुत मुश्किलसे होता है। बहुतसी क्रियाएँ तो शून्यताकी भाँति होती हैं, ऐसी स्थिति होनेपर भी उपाधियोगको तो बलपूर्वक आराधते हैं। यह वेदन करना कम विकट नहीं लगता, क्यों कि आँखसे जमीनकी रेती उठाने जैसा यह कार्य है। यह जैसे दुःखसे–अत्यंत दुःखसे–होना विकट है, वैसे चित्तको उपाधि उस परिणामरूप होनेके समान है। सुगमतासे स्थित चित्त होनेसे वेदनाको सम्यक्प्रकारसे भोगता है, अखण्ड समाधिरूपसे भोगता है।'

इस पत्रमें कृपालुदेवने स्वयंके परिणमनके सूक्ष्म (दोनों) पहलूकी स्पष्टता की है, जो कि मुमुक्षुजीवके लिये स्वयं बोधस्वरूप है। यथाः एक ओरसे हमारा चित्त नेत्र जैसा है, अर्थात् नेत्रकी माफिक सिर्फ जाननेरूप ज्ञाताभावसे परिणाम वर्तते हैं। अतः ऐसी स्थितिमें बोलना, समझाना या कुछ करना, न करना ऐसी विचारणा मुश्किलसे हो सकती है। प्रायः उदय–क्रिया तो शून्यताकी भाँति अर्थात् शून्य उपयोगसे–असावधानीमें हुआ करतौ हैं। तथापि बलवान उपाधियोगका समाधिभावसे वेदन होता है – भिन्न रहकर सम्यक्प्रकारसे वेदन होता है। दूसरी ओर ऊपर–ऊपरसे उपयोग देना पड़ता है, जो अभिप्राय और पुरुषार्थ विरुद्ध प्रवृत्ति होनेसे बहुत विकट लगता है। यह विकटता दर्शाते हुए, जैसे आँखसे जमीनकी रेती उठानेका कार्य होना अत्यंत विकट है, ऐसा लगता है। जो चित्त राग करनेके लिये अशक्त है, उस चित्तको उपाधिका वेदन करना असह्य हो गया है, अर्थात् उदयभावमें रहते हुए असह्य वेदना होती है। इसी परिणामका अंतरंग दूसरा पहलू ऐसा भी है कि चित्त स्थिरता अच्छी होनेसे उक्त वेदनाको भी वे सम्यक्प्रकारसे भोगते हैं, अखण्ड समाधिभावसे भोगते हैं।

ज्ञानीपुरुषकी ऐसी अंतरंग दशाकी अभिव्यक्ति–अंतरमें भेदज्ञान (भिन्नता) का प्रयोग कर रहे आत्मार्थीजीवको, आत्मार्थ समझनेमें, विशेष उपकारी होवे, ऐसा है।

३८७

बंबई, श्रावण सुदी, १९४८

'यहाँ हमें भी उपाधियोग रहता है; अन्य भावमें यद्यपि आत्मभाव उत्पन्न नहीं होता और यही मुख्य समाधि है।'

आपको व्यावसायिक प्रवृत्तिमें जुड़ना पड़ता है वह उदयभावरुप अन्यभाव है। वैसे अन्यभावमें आत्मभाव उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् उन–उन भावोंमें आत्मभावसे–तन्मयभावसे प्रवर्तन नहीं होता; सहज भिन्न रहा जाता है; ऐसी जो स्वरूप–परिणति है वह मुख्य है, और वह समाधिभावरूप है। यह ज्ञानदशाका स्पष्ट चित्र है।

आगामी जन्मजयंति प्रसंग

पूज्य गुरुदेवश्री की जन्मजयंति दि.२०–४–२०१५, पूज्य सोगानीजी की जन्मजयंति दि.२९–४–२०१५